

जैन-संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत—

संस्कृति का स्रोत नदी के ऐसे प्रवाह के समान है जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतों से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणों से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान में पाए जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि में कुछ-न-कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलाने वाली संस्कृति भी उस संस्कृति-सामान्य के नियम का अपवाद नहीं है। जिस संस्कृति को आज हम जैन-संस्कृति के नाम से पहचानते हैं उसके सर्वप्रथम, आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहिले-पहल किस स्वरूप में उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है। फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारों के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनों के ऊपर विचार करते हुए हम जैन-संस्कृति का हृदय थोड़ा-बहुत पहिचान पाते हैं।

जैन-संस्कृति के दो रूप—

जैन-संस्कृति के भी, दूसरी संस्कृतियों की तरह, दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर संस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता। क्योंकि किसी भी संस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी को होता है जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते। पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन चितानेवाले पुरुष या पुरुषों के जीवन-व्यवहारों से तथा आसपास के वातावरण पर पड़नेवाले उनके असरों से वे किसी भी आन्तर संस्कृति का अन्दाजा लगा सकते हैं। यहां मुझे मुख्यतया जैन-संस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अमुमान पर ही निर्भर है।

जैन-संस्कृति का बाह्य स्वरूप—

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में, अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह अनेक वस्तुओं का समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला संबंध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्यसंस्कृति की अंग हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अंग मौजूद हों वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिए। बाह्य अंगों के होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगों के अभाव में भी संस्कृति का हृदय संभव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति भलीभांति समझ सकेगा कि जैन-संस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियों में ही संभव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं, या जो अपने को जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय संभव नहीं और जैन नहीं कहलाने वाले व्यक्तियों में भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय संभव है। इस तरह जब संस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज में सुलभ नहीं होता तब संस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायियों की तरह इतर समाज के अनुयायियों में भी संभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पात, भाषा और रीति-रिवाज आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बांध सकते हैं।

जैन-संस्कृति का हृदय—निवर्त्तक धर्म—

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्त्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्त्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपों के बारे में थोड़ा सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण—

इस समय जितने भी धर्म दुनियाँ में जीवित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सब के आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होता है।

१—पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।

२—दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।

३—तीसरा वह है जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद—

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख से उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था। और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करनेवाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। वही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ एक मात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नहीं करता या धर्म नाम से तरह-तरह के विधि-विधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्ग को एक मात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते हैं।

प्रवर्तक-धर्म—

दूसरा विचारक वर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म में सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मर कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्मजन्मान्तर में शारीरिक-मानसिक सुखों

के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृंखला चल रही है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मान्तर में भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचार-सरणी वाले लोग तरह-तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिकसे-अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रवर्तक धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुख लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मान्तर का उच्छेद। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म, तीन पुरुषार्थ हैं। उसमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेद भाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनों में जो मीमांसा-दर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक-धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म—

निवर्तक-धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक-धर्म का बिलकुल विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्म-वादियों की तरह तो मानते ही थे; पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे। उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, वह कितने ही दीर्घ काल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश पानेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अंत में निरुद्ध सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस खोज की

सूक्त ने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा को उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय वही निवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज को सूक्त ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एक मात्र साधक की अपनी विचार-शुद्धि और वर्तन शुद्धि पर अवलम्बित था। यहीं विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय संस्कृति के विचित्र और विविध ताने-बाने की जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्मकाण्डी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अश्वेदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही पर वैदिक समझे जानेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अश्वेदिक ये सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्म-ज्ञान को तथा आत्म-ज्ञानमूलक अनासक्त जीवन व्यवहार को उपादेय मानते हैं। एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना संभव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक-धर्म—

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवन से संबन्ध रखते हैं और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से संबन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण

अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यशयागादि बन्धनों से आबद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है। पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृस्थाश्रम जरूरी है उसे लांघ कर कोई विकास कर नहीं सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक-धर्म—

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्म तत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त-चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलभ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक-धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरु में बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बंधन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किये भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं पर उसका निरोध है। अतएव प्रवर्तक-धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास—

जान पड़ता है इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आए तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरु में इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था उसने प्रवर्तक-धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरु हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म के आधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में

स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किये भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन में आज भी देखते हैं।

समन्वय और संघर्ष—

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैत्रिक संपत्ति रूप प्रवर्तक-धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्यायवैशेषिक दर्शन के और औपनिषद् दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्ड का तो आत्यन्तिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योग दर्शन प्रवर्तक-धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे, और न युक्त बतलाते थे। भगवान महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक-धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक-धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। अब तक नीच से ऊँच तक के वर्गों में निवर्तक-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक-धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्व विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म में प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रों को आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही

कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहिले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य-स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रखा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार—

शताब्दियों ही नहीं बल्कि सहस्राब्दि पहले से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं:—१—आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व। २—इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद करना। ३—इसके लिए आध्यत्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके वास्ते शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तत्पस्थाओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन चार या पाँच महाव्रतों का याज्जीवन अनुष्ठान। ४—किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनों को ही प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को। ५—योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का। ६—मद्य-मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारों से जुदा पड़ते थे वे देश में जड़ जमा लुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—

कमोवेश उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था जो महावीर के पहिले बहुत शताब्दियों से अपने खास ढङ्ग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहिले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनंगार,

श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक-धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जैन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी भगवान् महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज जैन शब्द से महावीर-पोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' 'गृहस्थ' सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहिले 'निर्ग्रन्थ' और 'समखोवासग' आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

जैन और बौद्ध सम्प्रदाय—

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में ऊपर सूचित निवृत्ति-धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही पर इसमें ऋषभ आदि पूर्वकालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अन्त में शातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक विशेषताएँ आई थीं व स्थिर हो गई थीं कि जिनसे शातपुत्र-महावीर पोषित यह सम्प्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से खास जुदा रूप धारण किये हुए था। यहाँ तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायियों को एक ही भाषा में उपदेश करते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था फिर भी महावीर पोषित और बुद्धसंचालित सम्प्रदायों में शुरु से ही खास अन्तर रहा जो शातव्य है। बौद्ध सम्प्रदाय बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है जब कि जैन सम्प्रदाय महावीर आदि को इष्ट देव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है। बौद्ध चित्तशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर भी अधिक जोर देते रहे। बुद्ध का जीवन जितना लोकों में हिलने-मिलनेवाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-सादे लोकसेवागामी हैं वैसा महावीर का जीवन तथा उपदेश नहीं हैं। बौद्ध अनगार की ब्राह्मचर्या उतनी नियन्त्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारों की। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएँ हैं जिनके कारण बौद्ध सम्प्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा लांघकर उस पुराने

समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतियों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा व अपनाया जब कि जैन सम्प्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ ।

यद्यपि जैन संप्रदाय ने भारत के बाहर स्थान नहीं जमाया फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर छोड़ी बहुत जरूर डाली । जैसे-जैसे जैन संप्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया वैसे-वैसे उस प्रवर्तक-धर्म वाले तथा निवृत्ति-पंथी अन्य संप्रदायों के साथ थोड़े-बहुत संघर्ष में भी आना पड़ा । इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे संप्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों का असर जैन संप्रदाय पर भी पड़ा । यह क्रिया किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा संपन्न नहीं हुई । बल्कि दृश्य-अदृश्य रूप में हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है । पर अन्त में जैन संप्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म-संप्रदायों का स्थायी, सहिष्णुतापूर्ण समन्वय सिद्ध हो गया है जैसे कि एक कुटुम्ब के भाइयों में होकर रहता है । इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन-सी बात मौलिक है और कौन-सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है । जैन आचार-विचार का जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन कराने के पहिले दूसरे संप्रदायों के आचार-विचार का जैन-मार्ग पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेप में बतलाना ठीक होगा जिससे कि जैन संस्कृति का हार्द सरलता से समझा जा सके ।

अन्य संप्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव—

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियों की स्तुति, उपासना के स्थान में जैनो का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना । पर जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव देवियाँ, पुनः गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गईं, जिसका कि जैन संस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है । जैन-परंपरा ने उपासना में प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आसपास शृंगार व आडम्बर का इतना संभार आ गया जो कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है ।

स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में सम्मान व स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपना देने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्म-प्रसिद्ध जाति की दीवारें भी खड़ी कीं। यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परंपरा का प्राधान्य रहा वहाँ तो उसने अपने घेरे में से भी शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरु में जैन-संस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी उसने दक्षिण जैसे देशों में नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया जो कि स्पष्टतः कट्टर ब्राह्मण-परंपरा का ही असर है। मन्त्र ज्योतिष आदि विद्याएँ जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई संबंध नहीं वे भी जैन संस्कृति में आईं। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई संबंध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान में मध्यकाल में जैन-संस्कृति का एक अंग बन गए और इसके लिए ब्राह्मण-परंपरा की तरह जैन-परंपरा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियों में आ गए। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन-संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे, या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे। अब हम थोड़े में यह भी देखेंगे कि जैन-संस्कृति का दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का प्रभाव—

यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना जोर जैन-परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहाँ तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन-विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनतर परंपराओं के आचार-विचार, पुरानी वैदिक परंपरा से बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा

ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक भुक्त रहे हैं। इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविध सात्विक तपस्याएँ अपना ली हैं। और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहाँ तक कि अनेक बार मुसलमान सम्राट तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं, मद्य-मांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें धटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है वहाँ इस स्वैरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांस-भक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करने में सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों से जो प्राणिरक्षा और निर्मांस भोजन का आग्रह है वह जैन-परंपरा का ही प्रभाव है। जैन विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिल्कुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष को ओर हो। और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना। यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है। इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्ति लाभ कर सकता है। पर जैन विचारकों ने उस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और उस पर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी सम्प्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन-परंपरा के आदर्श—

जैन-संस्कृति के हृदय को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहिले से आज तक जैन-परंपरा में एकसे मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सब से पुराना आदर्श जैन-परंपरा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का सबसे बड़ा भाग उन जवाबदेहियों

को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजा पालन की जिम्मेवारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। उन्होंने उस समय के विलकुल अपद लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्दा न जानने वाले वनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बर्दई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपस में कैसे बरतना, कैसे नियमों का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तब उसे राज्य-भार सौंप कर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कट तपस्वी होकर घर से निकल पड़े।

ऋषभ देव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थीं। उस ज़माने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुन्दरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-मांग को अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्न मांग को तपस्था में परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नाम-शेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्त में द्वन्द युद्ध का फैसला हुआ। भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस आतृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय में बदल दिया। उसने यह सोच कर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रति वैर तथा कुटुम्ब कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अर्हकार और तृष्णा-जय में ही है। उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन्त-दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्य प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते शकल किये जानेवाले निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय

किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवध में राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी-वध की प्रथा पर आत्मदृष्टान्त से इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाववाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम-शेष हो गई और जगह-जगह आज तक चली आनेवाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ है कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई साँप तक को नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह “अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः” इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में होनेवाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन-संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन-संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य—

संस्कृति मात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य वह तभी साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अङ्ग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफत का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने

इतिहास और पुरानी यशोगाथाओं के सहारे न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है जब तक वह भावी-निर्माण में योग न दे। इस दृष्टान्त से भी जैन-संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह संस्कृति मूलतः प्रवृत्ति, अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई। इसके आचार-विचार का सारा ढांचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया।

निवृत्ति और प्रवृत्ति—

समाज कोई भी हो वह एक मात्र निवृत्ति की भूलभुलैयाँ पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साथ सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले और सिर्फ प्रवृत्तिचक्र का ही महत्व माननेवाले आखिर में उस प्रवृत्ति के तूफान और आंधी में ही फँसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिए निवृत्ति हवा का किला ही बन जाता है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह दोषनिवृत्ति के साथ ही साथ सद्गुणों की और कल्याणमय प्रवृत्ति में बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और पुष्टि कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिये अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का संचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति—

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन-संस्कृति भी जो किसी न किसी प्रकार जीवित रही है वह एक मात्र निवृत्ति के बल पर नहीं किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उल्लिखित होकर आज नए उपयोगी स्वरूप में गांधीजी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणामुख आवश्यक प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन-संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूँजी मानती आई है उनके

आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सब के लिए स्वैरमकर हो ।

जैन-परंपरा में प्रथम स्थान है त्यागियों का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का । त्यागियों को जो पाँच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणों में प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक-प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है । हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और सद्गुणपोषक प्रवृत्ति को बिनाजीवन में स्थान दिये हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है । इस देश में जो लोग दूसरे निवृत्ति-पंथों की तरह जैन-पंथ में भी एक मात्र निवृत्ति की ऐकान्तिक साधना की बात करते हैं वे उक्त सत्य भूल जाते हैं । जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखता उसके लिए जैन-परंपरा में अगुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है । ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया है । उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से बचने का अभ्यास करें । पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणों को जीवन में स्थान देते जाएँ । हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा । सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी ? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण पोषक प्रवृत्तियों में अपने आप को खपाना ही होगा । इस बात को ध्यान में रखकर जैन-संस्कृति पर यदि आज विचार किया जाए तो आजकल की कसौटी के काल में जैनो के लिए नीचे लिखी बातें कर्तव्यरूप फलित होती हैं ।

जैन-वर्ग का कर्तव्य—

१—देश में निरक्षरता, वहम और आलस्य व्याप्त है । जहाँ देखो वहाँ फूट ही फूट है । शराब और दूसरी नशीली चीजें जड़ पकड़ बैठी हैं । दुष्काल, अति-वृष्टि, परराज्य और युद्ध के कारण मानव-जीवन का एक मात्र आधार पशुधन नामशेष हो रहा है । अतएव इस संवन्ध में विधायक प्रवृत्तियों की ओर सारे त्यागी वर्ग का ध्यान जाना चाहिए, जो वर्ग कुटुम्ब के बन्धनों से बरी है, महावीर का आत्मौपम्य का उद्देश्य लेकर घर से अलग हुआ है और ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के आदर्शों को जीवित रखना चाहता है ।

२—देश में गरीबी और बेकारी की कोई सीमा नहीं है । खेती-बारी और

उद्योग-धन्ये अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रहे हैं। अतएव गृहस्थों का यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्ति का उपयोग तथा विनियोग राष्ट्र के लिए करें। वे गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लाएँ। बुद्धिसंपन्न और साहसिकों का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामों में लग जाएँ जो राष्ट्र के लिए विधायक हैं। काँग्रेस का विधायक कार्यक्रम काँग्रेस की ओर से रखा गया है इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है। असल में वह कार्यक्रम जैन-संस्कृति का जीवन्त अंग है। दलितों और अस्पृश्यों को भाई की तरह बिना अपनारण कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नजदीक हैं और एक मात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्म के पोषक हैं उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ? अतएव उपसंहार में इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसंगों में अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़कर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों का ही क्या, सभी कौमों का मेल भी निहित है।

संस्कृति का संकेत--

संस्कृति-मात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी संभव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। जैन-संस्कृति यदि संस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अंत में मिट जा सकती है।

ई० १९४२]

[विश्वज्यापी